

रवीन्द्रनाथ की संगीत चेतना

प्रो० मंजु रानी सिंह

हिंदी -विभाग

विश्वभारती, शांतिनिकेतन

प० बंगाल

E mail- mrsingh17@gmail.com

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ की मौलिक संगीत चिंतना के लक्षण उनके बाल्य काल से ही दिखने लगते हैं। अपनी 'जीवन स्मृति' में रवीन्द्रनाथ ने इस बात का उल्लेख किया है कि ठाकुर परिवार के बच्चों का आधिकांश समय अंतःपुर से परे छत की एक कोठरी में नौकरों की देख-रेख में बीतता था, जिस कारण खुले आंगन और आसमान की चाहत में मन हमेशा ही उड़ा करता-छटपटाता रहता। छह वर्ष की उम्र में जब उन्हें 'ओरियन्टल सेमिनरी' में भरती किया गया, वहां होती प्रार्थना भर से उनका मन विरक्त हो गया, एक निरर्थक प्रार्थना थी वह 'केलोकी, पुलोकी सिंगल मेलालिंग मेलालिंग,'। बड़े होने पर उन्होंने इसके सही रूप की तलाश की-फुल ऑफ ग्ली, सिंगल मेरिली मेरिली' इसी बात से पता चलता है कि शब्द, ताल, लय और तरंग सबमें एक विशेष अर्थ, चेतना और आनंद की चाहत खेलती रहती थी उनके मन में। व्यर्थता की कोई जगह नहीं थी उनके पास। आंखों के सामने आए हुए सारे प्राकृतिक या व्यवहारिक दृश्य, सुने गए सारे शब्द कुछ न कुछ सार्थक अर्थ में परिवर्तित कर देता था उनका मन। घर का वातावरण पूरी तरह से संगीतमय था उन्होंने जीवित संगीत की बड़ी आवश्यकता महसूस की थी। हमारी संस्कृत भाषा जिस प्रकार मृत भाषा है, उसी प्रकार हमारा संगीत शास्त्र भी मृत शास्त्र है। इसका प्राणवियोग हुआ है, केवल देहमात्र अवशिष्ट है। हम इसका मात्र जड़, अचंचल, जीवनहीन मुख देख रहे हैं, विविध विचित्र भाव की लीलामय, छायालोकमय, परिवर्तनशील मुखश्री-देख नहीं पा रहे हैं। हम कुछ शब्द सुन सकते हैं, किन्तु-उसके स्वरों की उच्चनिम्नता नहीं सुन सकते, समस्वर में एक के बाद एक शब्द मात्र श्रुतिगोचर होता है। संभवतः उसका अर्थबोध क्रमशः मात्र होता है, किन्तु उसके अर्थ को सम्यक रूप से आत्मसात कर अपने हृदय के रक्तप्रवाह के साथ एक रूप नहीं कर पा रहे हैं। आज यदि कोई संस्कृत भाषा में कविता लिखे तो नस्यसेवी, केलाभातजीवी, आलंकारिक, समालोचक उसे किस दृष्टि से देखेंगे? वे तत्काल व्याकरण ग्रन्थ निकालेंगे, अलंकार की पंथी खोल बैठेंगे षत्व णत्व, तद्धित प्रत्यय, समास संधि मिलाकर यदि उसे निर्दोष विवेचित करेंगे, यदि देखेंगे कि यश को

शुभ्र कहा गया है, नलिनी के साथ सूर्य का, कुमुद के साथ चंद्र का संपर्क संपादित किया गया है, तभी वे परमानन्द अनुभव करेंगे।' गुरुदेव रवीन्द्रनाथ संगीत की इस जड़ धारा के विपरीत एक जीवन्त और सक्रिय धारा के पक्षधर हो रहे थे। उनका अनुभव यह हो रहा था कि उद्देश्य प्राप्ति का उपाय होना चाहिए न कि उपाय को ही उद्देश्य बना लेना चाहिए।

जैसे रुपया पैसा एक प्रकार का साधन है जिससे विभिन्न प्रकार के सुख-साधन संपन्न हो सकते हैं परंतु कई बार मनुष्य रुपया-पैसा को ही अपना उद्देश्य बना लेता है और जीवन के उच्चतर-उच्चतम मूल्यों की बात भूल जाता है। उसी तरह राग-रागिनी का भी संदर्भ है। इनके द्वारा आनंद को पाना उद्देश्य है पर जड़ पंडित और उस्ताद आदि कई बार शिष्यों को राग-रागिनियों से इस कदर बांध देते हैं कि वे इन्हें ही संगीत का उद्देश्य मानते हैं और भाव की पूरी-पूरी उपेक्षा हो जाती है। गुरुदेव मानते हैं कि 'संगीत मनोभावों की अभिव्यक्ति का श्रेष्ठतम उपाय मात्र है। जब हम कविता पाठ करते हैं, तब उसमें अंगहीनता रह जाती है, संगीत और कुछ नहीं सर्वोत्कृष्ट रीति से कविता पाठ करना है।'¹

'आज राग-रागिनी ही उद्देश्य बन गए हैं। जिस राग-रागिनी को भाव समर्पण कर दिए गए थे, आज वही राग-रागिनी विश्वासघातकता के साथ भाव की हत्या कर स्वयं, सिंहासन पर अधिकार कर विराजमान है।'²

गुरुदेव की सीधी सोच है कि आज संगीत सुनते हुए जयजयवन्ती, बिहाग या कान्हड़ा के कायम रहने की शर्त खोजने की जरूरत नहीं है, युग बदल गया है, हमारी रुचि बदल चुकी है इसलिए पाठक उक्त रागों की परिणति को अर्थ देता है, संगीत से अभिव्यक्त भावों का मूल्य पहचानता है और उसे सुनकर यदि वह आनंद विभोर हो जाता है, आंखों से अश्रु गिराने लगता है तभी संगीत की सार्थकता है अन्यथा शास्त्रीयता के प्रदर्शन का कोई मोल नहीं। उनका मानना है "मध्यम के स्थान पर पंचम का प्रयोग सुनने में अच्छा लगता है और उससे वर्णनीय भावों की सहायता होती है तो जयजयवन्ती रहे या मर जाये, मैं पंचम का प्रयोग ही क्यों नहीं रखूंगा। मैंने जयजयवन्ती से ही ऐसी कौन सी घूस ली है जो मैं उसके पीछे ही प्राण दूंगा?"

गुरुदेव को उस्ताद वर्ग द्वारा मुख विकृत करना (भंगिमा दोष) पसीने-पसीने होकर गायन करना, भावों का गला घोट देना और आर्तनाद सुरों में गायन करना पसंद न था। उस्ताद और भावुक के बीच उन्हें वैसा ही अंतर महसूस होता था जिसमें एक कहे कि *शुष्कं काष्ठं तिष्ठत्यग्रे*, और दूसरा कहे कि *नीरस तरुवरः पुरतो भाति*।

गुरुदेव मानते थे कि राग-रागिनियों की विशुद्धता से अधिक जरूरी है कि उस्ताद लोग राग-रागिनियों में निहित भावों की खोज करें।

उनके लिए यह आवश्यक है कि विशेष-विशेष रागिनी में विशेष-विशेष-भाव की उत्पत्ति क्यों होती है, उसके कारण का पता लगाएं। जैसे पूरबी से संध्याकाल का ध्यान क्यों आता है और भैरव से प्रभात का आभास क्यों होता है? पूरबी में कोमल स्वरों का बाहुल्य है और भैरव में भी कोमल स्वरों का बाहुल्य है, फिर दोनों से भिन्न फल क्यों उत्पन्न होता है? क्या ऐसा मात्र प्राचीन संस्कारों के कारण होता है? ऐसा नहीं है। उसके गूढ़ कारण है। प्रथमतः प्रभात की रागिनी और संध्या की रागिनी दोनों में ही कोमल स्वर आवश्यक हैं। प्रभात जिस प्रकार धीरे-धीरे अति क्रमशः नयन उन्मीलित करता है। उसी प्रकार संध्या धीरे-धीरे, अति क्रमशः नयन निमीलित करती है। अतएव कोमल स्वरों का अर्थात् जिन स्वरों के बीच व्यवधान अत्यंत अल्प है, जो स्वर अत्यंत धीरे-धीरे अत्यंत अलक्षित भाव से आपस में परस्पर मिल जाते हैं, संध्या-प्रभात की रागिनियों में वे स्वर अधिक आवश्यक हैं। फिर भी प्रभात और संध्या में किस विषय में प्रभेद रहना उचित है?

एक में 'सुर'(सूक्ष्म, अमूर्त, साधारण बोध का नवरूप और उपयुक्त प्रतिमा) का क्रमशः विकास होना आवश्यक है जब की दूसरे में अत्यंत धीरे-धीरे 'सुर' का क्रमशः निमीलित होना आवश्यक है। भैरव और पूरबी में वही विभिन्नता रक्षित हुई है, इसीलिए प्रभात और संध्या उक्त दोनों रागिनियों में मूर्तिमान हैं। इसी तरह गुरुदेव ने सुख-दुख के भी अभिव्यंजक स्वरों पर ध्यान दिया है,

इन्हीं का ध्यान रख कर हर प्रकार के रवीन्द्र संगीत का निर्माण भी उन्होंने किया। यह बहुत आश्चर्य जनक है कि उन्होंने छह हजार गीत लिखे और अधिकांश के स्वरलिपि भी तैयार की और करवाई। उन्होंने अनुभव किया कि ताल भी भावप्रकाश का एक अंग है। जैसे सुर वैसे ताल भी आवश्यक हैं, दोनों समानरूप से आवश्यक हैं 'अतएव भाव परिवर्तन के साथ-साथ ताल का भी द्रुत और विलम्बित करना आवश्यक है, सर्वत्र ताल समान ही रखना होगा ऐसा नहीं है।³

रवीन्द्र संगीत को उन्होंने आम जनता का संगी बनाया। शास्त्रीयता के भार से उसे वजनी नहीं बनाया ताकि घर-घर स्त्री-पुरुष-बच्चे संगीत का आनंद ले सकें और सुसंस्कृतमय हो सकें। उन्होंने सर्वदा भावाभिव्यक्ति को आवश्यक घटक माना, ताल और सुर को गौण स्थान दिया। उन्होंने रवीन्द्र संगीत में संगीत के सम पर नहीं बल्कि ताल के सम का महत्व अधिक दिया। ताल संयोजन को भी अधिक कठोर करना ठीक नहीं। 'सिर पर जलपूर्ण कलश लेकर नृत्य करना जिस प्रकार है हजार तरह की अंगभंगिमाओं के बावजूद एक बिंदु जल नहीं छलकता,

यह भी वैसा ही एक प्रकार का कष्ट साध्य व्यायाम है। यही कारण है कि रवीन्द्र संगीत पर घर-घर नृत्य देखा जा सकता है, सिर्फ कठोरता के नियम न रहने के कारण।

गुरुदेव ने संगीत की सहजता को गुरुत्व देते हुए कहा है कि संगीत वेत्ताओं से मेरा निवेदन है किस किस सुर के किस प्रकार विन्यास से कौन-कौन से भाव प्रगट होते हैं और उनकी अभिव्यक्ति क्यों होती है- उसके विज्ञान का अनुसंधान करें।⁴ मुल्तानी, इमन, कल्याण, केदार प्रभृति में कौन-कौन से सुर वादी, कौन-कौन से 'सुर' विसंवादी हैं, इसके प्रति मनोनिवेश न कर इस बात का पता लगाने में प्रवृत्त हो कि सुख-दुख, रोष या विस्मय की रागिनियों में कौन-कौन से सुर वादी और कौन-कौन से सुर विसंवादी हैं। मुल्तानी केदार प्रभृति तो मानव रचित कृत्रिम राग-रागिनियां हैं, किन्तु हमारे सुख-दुख के राग-रागिनि कृत्रिम नहीं हैं। हमारी स्वभाविक बातचीत में ये सब राग-रागिनी प्रच्छन्न रहती हैं। कुछ अर्थ शून्य नामों का परित्याग कर विभिन्न भावों के नामों के अनुसार हमारी राग रागिनियों के विभिन्न नाम रखे जायं। हमारे संगीत विद्यालयों में सुर अभ्यास और राग-रागिनी-शिक्षा की श्रेणियां हैं, वहां राग-रागिनी की भाव शिक्षा की श्रेणियां भी स्थापित हों। आज जिस प्रकार संगीत सुनते ही सभी बोल उठते हैं - 'वाह इसका सुर कितना मधुर है', ऐसा दिन क्या नहीं आएगा, जबकि सभी कहेंगे - 'वाह क्या ही सुंदर भाव है! गुरुदेव अतीत को याद करते हैं -

हमारा संगीत जब जीवन्त था, तब भाव के प्रति जिस प्रकार मनोयोग दिया जाता था, वैसा मनोयोग और किसी देश के संगीत में दिया जाता है या नहीं कहना मुश्किल है। चूंकि हमारे देश में विभिन्न ऋतुओं और विभिन्न समय के भावों के साथ मिलाकर विभिन्न राग रागिनियों की रचना की जाती थी हमारी राग-रागिनियों के विभिन्न अभिव्यंजक चित्र भी थे, अतः स्पष्ट हो जाता है कि तब हमारे देश में राग रागिनियां भाव की सेवा में नियुक्त थीं।⁵ स्पष्ट है कि प्रभावकारी, भावकारी संगीत, जीवनमय संगीत को शास्त्रगत, व्याकरणगत अनुष्ठानगत मात्र ही होकर नहीं बजना होगा बल्कि बहना होगा हृदय में, जीवन को आनंद की धारा में बहाकर ऊर्जा से भरना होगा।

यह तो साफ है कि अब अकबर का राजत्व नहीं है तो तानसेन के संगीत पर सर हिलानेवालों की संख्या भी कम जरूर हुई है। ऐसे में गुरुदेव का मानना है कि वर्तमान काल के साथ योग रखकर उसे टिकना होगा, वह वर्तमान काल का मुंह बंद कर अपनी ही अन्तहीन पुनरावृत्ति करता रहेगा, यह तो हो नहीं सकता।

‘मनुष्य उसे ही चाहता है जो वस्तु होने पर भी वास्तुगत या अटल नहीं बन जाती, जो उसके प्राणों के साथ-साथ चलती है, जो उसे मुक्ति का स्वाद देती है। रवीन्द्र संगीत इसी मुक्ति का एक अनोखा स्वाद है।

वे कहते हैं ‘मैं यह नहीं कह सकता कि आधुनिकों के दल ने गान का बिल्कुल वर्जन कर दिया है, किन्तु वह जिस गान का व्यवहार कर रहा है जिस गान का आनन्द प्राप्त कर रहा है, वह गान जात भुलैया गान है। उसमें शुद्ध-अशुद्ध विचार नहीं है। कीर्तन, बाउल, बैठकी मिलाकर जो वस्तु आज तैयार हो रही है वह आचार भ्रष्ट है। उस्ताद उसकी निन्दा करते हैं। उसमें निन्दनीयता निश्चय ही काफी है किन्तु अनिन्दनीयता ही सबसे बड़ा गुण नहीं है। प्राण शक्ति शिव की भांति अनेकों प्रकार के विष हजम कर लेती है। लोगों को अच्छा लगता है, सभी सुनना चाहते हैं, सुनते समय निद्रालीन नहीं होते, यह भी तो छोटी-बात नहीं है, अर्थात् ‘गान की पंगुता दूर हुई, उसने चलना आरंभ कर दिया। प्रथम चाल सर्वांग सुन्दर नहीं है, उसकी भंगिमाएं हास्यास्पद एवं कुश्री हैं, किन्तु सबसे अधिक आशा की बात यह है कि उसने चलना शुरू कर दिया है, वह बन्धन नहीं मानता। प्राण के साथ संबंध ही उसके लिए सबसे बड़ा संबंध है, प्रथा के साथ का संबंध नहीं — यही बात आज के गान के इस विभ्रान्त वातावरण में गूँज रही है। उस्तादों की चतुराई अब उसे बांध कर नहीं रख सकेगी।’⁶

गुरुदेव संगीत की कोई हिन्दु मुस्लिम जैसी जाति नहीं मानते थे। हिन्दुस्तानी संगीत को यदि विदेशी छड़ी थोड़ा छू के और उसके रूप में कोई लावण्य ला दे तो उन्हें स्वीकार था। उनके समय में द्विजेन्द्रगीति का भी प्रचलन था। पर उसकी निन्दा होती थी, सिर्फ इसलिए कि उनके गीत में पाश्चात्य सुर का स्पर्श लगता था। गुरुदेव इस स्पर्श को समय का तकाजा मानते थे और इसका स्वागत करते थे। उनका मानना है कि ‘हिन्दूसंगीत को कोई भय नहीं’-विदेश के संसर्ग से वह अपने को बड़े रूप में ही पाएगा। चित्त के साथ चित्त का संघात आज लगा है, उस संघात से सत्य उज्ज्वल नहीं होगा, नष्ट ही होगा — ऐसी आशंका जो भीरू करते हैं, जो मानते हैं कि सत्य को अपनी मातामही की जीर्ण गदली से ढक रखने से सत्य टिका रहेगा, आज वे जितना ही शोर मचाएं उन्हें रास्ता छोड़कर चले जाना होगा।⁷

गुरुदेव ने अपने संगीत चिंतन के माध्यम से हमेशा यह समझाने की कोशिश की है कि संगीत अनिर्वचनीयता में है, बाह्यआकार-प्रकार में नहीं हैं। जैसे एक कमल के फूल का आकार-प्रकार तो सुंदर होता ही है पर उसके आकार-प्रकार के पार भी एक सौंदर्य है उसका जिसे हृदय से ही अनुभव किया जा सकता है। वही अनुभव उसका संगीत है, इसीलिए कमल के अनिर्वचनीय

सौंदर्य के आधिक्य के साथ गुरुदेव के भाव का आधिक्य एकाकार होता है और गीत जन्मता है-

**आजि कमल मुकुल दल खुलिल-!
दुलिल रे दुलिल
मानस सरसे रस पुलके
पलके-पलके डेउ तुलिल।
गगन मगन हल गन्धे
समीरण मूर्छे आनन्दे
गुन गुन गुंजनछंदे
मधुकर घिरे घिरे बन्दे
निखिल भुवनमन भुलिल
मन भुलिल रे, मन भुलिल।**

कमल के खिलने पर हृदय में जो हिल्लोल उठता है वह अरुप है पर कवि ने उसे ही सांगीतिक रूप दिया है। सरोवर जो आनन्द रस से विभोर हो गया है, देखने वालों की पलकों में आनंदाश्रु डेउ की तरह उमड़ आया है। गगन तक मगन हो गया है, समीरण का तो कुछ कहना ही नहीं, सुगंध से मतवाला हो गया है, मूर्छित हो रहा है, भंवरे विभोर होकर कमलदलों में कैद हो जाने को तत्पर हैं धरती और आकाश दोनों ही मगन हैं।

कवि चाहता है कि यह गीत ऐसे राग में गाया जाय कि भाव सीधे हृदय को छू ले, मन आनंद विभोर हो उठे, भले ही उस्ताद इसमें अपनी शास्त्रीयता को भंग होते देखें तो देखें। गुरुदेव ने गीतों-की-रचना 1878 से आरंभ की और यह क्रम 1941 तक अबाध चलता रहा। 1925 तक की धुनों में अनायास ही शास्त्रीय संगीत एवं अन्य प्रादेशिक तथा विदेशी गीतों की धुनों का प्रभाव आया पर "रावीन्द्रिक धुन" का वैभव अलग दिख ही जाता था। उसका कारण नए-नए तालों की रचना भी थी।

उन्होंने गीतों की आत्म रक्षा का पूरा ध्यान रखा। इसके लिए उन्हें शास्त्रीय रागों और तालों को थोड़ा-बहुत कहीं-कहीं से बदलना पड़ा तो उन्हें बदला और संगीत की अपनी अवधारणा के सामने शास्त्रीयता की शुद्धि को रुढ़ि मानकर त्यागने का साहस दिखाया, एक उदाहरण देते हुए उनकी व्याख्या देखी जा सकती है

**कांपिछि देहलता थर थर
चोखेर जले आंखि भरभर**

छंद में पाठको को कोई गड़बड़ी नजर नहीं आई पर गाने में मुंह बनाना शुरु कर दिया, कारण था गीत की पंक्ति में लय का प्रवाह आधे हिस्से में 7 मात्रा का व आधे हिस्से में 4 का था। पर रवीन्द्र ने अपनी रचना बदली नहीं बल्कि 11 मात्रा का **एकादशी ताल** ही बना दिया।

इसी प्रकार बहुत ऐसे गीत लिखे जिनकी दोनों पंक्तियों में अलग-अलग मात्राएं थी और उनके लिए अलग-अलग तालों की रचना भी की। जिस गीत में $3+6 = 9$ मात्राएं थी उसका नाम **नवताल** रखा। जिस गीत को वे रूपक या तीव्रा में निबद्ध कर सकते थे उन्हें अलग-अलग खंडों की मात्रा के कारण **रूपकड़ा** नाम देकर नए ताल की रचना कर दी पर अपना छंद नहीं बदला।

एक प्रसिद्ध गीत है उनका **दुआरे दाओ मोरे राखिया नित्य कल्याणे काजे हे** यह कर्नाटक संगीत की लय में **दुष्करताल** और **फूलताल** के करीब जा रहा था पर पूरी तरह से उक्त तालों का निर्वाह छंद में हो नहीं रहा था तो गुरुदेव ने **एकादशीताल** के अंतर्गत इसे बांधा और तब गाने वाले को कोई दिक्कत नहीं आई। कर्नाटक संगीत में 11 मात्रा के भी ताल हैं जिनके नाम हैं **मणिताल, बिंदुताल, नीलताल** आदि। पर गुरुदेव ने 18 वाले ताल को **नवपंचताल** नाम दिया। **झपताल** का विषम वजन भी अपने गीतों में उठाने से वे चूके नहीं बल्कि कई परीक्षणों के बाद मात्रा के उल्टफेर के कारण एक नया नाम दिया **झंपकताल**।

रवीन्द्रनाथ के जीवन में एक ऐसा सांगीतिक प्रवाह आया कि एक से एक गीत वे लिखते चले गए और अपने कुछ सहयोगियों के साथ मिलकर उन्हें नए रागों और तालों में सजाते चले गए। ये सहयोगी थे दिनेन्द्रनाथ ठाकुर, इंदिरा देवी, शैलजारंजन मजूमदार, अनादी दस्तिदार, सुधीन्द्र रंजन कर आदि। इसके परिणाम स्वरूप उनके कान संगीत रस लहरी में भीगते रहे। उनके जीवन परिचय में इसका स्पष्ट उल्लेख है कि उस्ताद बनने की उनकी आकांक्षा कभी न थी। गुरुओं के पास बैठकर लंबे अर्से तक उन्होंने कभी भी संगीत शिक्षा ग्रहण नहीं की। वे तो गीतकार थे, स्वरकार थे, गीतों के मर्म को प्रसाद गुण से लिप्त कर अनुभूति की नई परंपरा के उन्नायक थे। उनमें संगीत के रसबोध की विलक्षण सूक्ष्म प्रतिभा विद्यमान थी। किन भावनाओं के लिए किन शब्दों की, किन स्वरों की आवश्यकता है, कितनी दूर तक ताल के बंधन में बांधकर उन भावनाओं को मुक्त करने की आवश्यकता है, कहां पर भावों की गति लड़खड़ाती हुई विषम छंद की पगडंडी पर बढ़ सकती है और कहां पर आनंदातिरेक से उछलती-कूदती सम छंद पर चल सकती है,

इसका मनन वे ही कर सकते थे। उन्होंने जीवन के प्रातः काल में शास्त्रीय संगीत का जो आशीर्वाद पाया था, उसे जीवन भर अपनी सांगीतिक रचनाओं में ढालते रहे। शास्त्रीय संगीत की आलाप-तान की शैली से वे सदैव सकुचाते रहे। इसका प्रमुख कारण उनकी भावुकता व उनका कवि हृदय था। उनके गीतों में स्वर व शब्द युगल साथी बनकर रहे। इसलिए शास्त्रीय संगीत की धुनों के साथ-साथ लोक गीत व आंचलिक गीतों के स्वर भी उन्होंने ग्रहण किये। उनके काव्य की मननशीलता एवं संगीत में हृदय का आवेग इन दोनों का मिलन गंगा-यमुना के पावन मिलन का परिचायक है।

अधिकांश चिंतकों का यही मानना है कि गुरुदेव रवीन्द्रनाथ बहुत ऊँचे कद के सफल कलाकार इसलिए हुए कि उन्होंने जीवन को खंडित रूप में नहीं देखा। ईश्वरीय सृष्टि के अखंडित और शाश्वत रूप, रस, गंध को अनुभूत किया और उसी एकात्मकता में एक सकारात्मक योगदान देने की कोशिश की। इसलिए ही रवीन्द्र संगीत में प्रेम, प्रकृति, पूजा, बाउल, बैरागी, भटियाली सारिगान, लोकधुन, शास्त्रीय छुअन सबकुछ समाया हुआ है और सबकी परिणति आनंद में होती है।

संदर्भ —

1. रवीन्द्रनाथ ठाकुर, संगीत चिंतन, वाणी प्रकाशन, पृ० 11
2. वही, पृ० 12
3. वही, पृ० 13
4. वही, पृ० 13
5. वही, पृ० 15
6. वही, पृ० 49
7. वही पृ० 50
8. रवीन्द्रसंगीत, डा. अनिता सेन, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी भोपाल पृ० 24.